tkfr&0;oLFkk % mnHko] fodkl vkj iHkko

&ih- ,u- jkxkLokeh

पूरे विश्व में सामाजिक–व्यवस्था के रूप में 'जाति' भारत की अपनी निजी और अनोखी संरचना है इसका उद्‌भव भारतीय समाज में एक अभिशाप के रूप में हुआ है। हम भविष्य में भी इस अभिशाप को एक प्रभावकारी सामाजिक पद्धति के रूप में या इस अभिशाप की प्रभावकता को अपने विकास के रास्ते और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अवरोधक के रूप में मानते हैं।

आधारभूत सामाजिक–परिवर्तन उत्पादक–पद्धति और उत्पादन–संबंधों के आधार पर होते हैं, सामाजिक–संरचना के अंग के रूप में कृत्रिम परिवर्तन यहां दृष्टिगोचर हो चुके हैं, जिन्हें न तो इतिहास अंगीकृत कर सका है, न ही आगे इसका बोझ उठा सकता है। लेकिन यहां यह एक ऐसी व्यवस्था है, जो हमारे समाज में आए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों व प्रभावों को समाज के गैर महत्त्वपूर्ण तबके तक नहीं पहुंचने देती, बल्कि यह सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्र के विकास को भी अवरुद्ध करती है। हम जाति–प्रथा के उद्‌भव, विकास और वर्तमान समय में समाज में इसकी उपस्थिति का अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करेंगे और इसके उन्मूलन के लिए कार्य करेंगे।

हमारा वर्तमान समाज अर्द्ध सामंती अवशेषों वाला नौकरशाही–पूंजीवादी चरित्र का है, जो अपने जनजातीय अतीत के उन्माद में है। यह अपने विचार और कार्य में जातीय मनोविज्ञान से संचालित होता है। जाति–व्यवस्था की अधिसंरचना (Super Structure) अपनी आर्थिक–संरचना पर निर्भर है, जो निम्न जाति के आर्थिक आधारों पर स्पष्टता से अभिव्यक्त होती है।

विभिन्न समुदायों के व्यक्तियों के बीच विभिन्नता दिखलाने वाली क्या विशेषताएं हैं? वह कौन–सी चीज़ें हैं, जो 'जाति' को 'वर्ग' से पृथक करती है? किस तरह जाति–व्यवस्था आधारभूत मानवीय गतिविधियों से संबद्ध है? किस तरह जाति–व्यवस्था न्यायिक, राजनीतिक, विचारधारात्मक और सांस्कृतिक धरातल जैसी अधिसंरचनाओं में स्वयं को अभिव्यक्त करती है। (आज भी अभिव्यक्त करती है)? किस तरह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जाति–व्यवस्था शासक–वर्ग और ऊंची जाति के लोगों द्वारा आम लोगों के शोषण को संभव बनाती है, जाति स्वयं को उच्चवच्च संरचनाओं में अभिव्यक्त करती है, तब किस तरह निम्न जातियां और आदिवासी, शासक–वर्ग और ऊंची जाति के कठोर व अदम्य शोषण का शिकार बनती हैं?

अध्ययन की दृष्टि से सभी प्रमुख जातियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

1) उच्च जाति के वे लोग, जो उत्पादक या गैर–उत्पादक श्रम की किसी भी गतिविधि में संलग्न नहीं होते हैं। उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों के उच्च वर्ण, जैसे मुदानियर, पिल्लिस आदि।

2) उत्पादक या गैर–उत्पादक श्रम में संलग्न मध्य जाति के वे लोग, जैसे किसान, कलाकार, संगतराश और कारखानों में काम करने वाले अन्य सभी श्रमिक।

3) दासोचित कार्यों में संलग्न निम्न जाति के लोग, जैसे धोबी, नाई आदि। इसके साथ इस वर्ग में अनुसूचित जाति व आदिवासी समुदाय के लोग भी सम्मिलित किए जा सकते हैं।

पूर्वोक्त तीनों श्रेणियों में प्रथम श्रेणी राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक क्षेत्र की अधिसंरचना में सम्मिलित है अथवा औद्योगिक, व्यावसायिक या नौकरशाही क्षेत्र से आधार रूप में संबद्ध है।

दूसरी श्रेणी से संबद्ध मध्य जातियों का धनी तबका प्रत्येक कार्य–क्षेत्र में भाग लेता है, विशेषकर कृषि–कार्यों में। सामंत–वर्ग का उद्‌भव इसी श्रेणी की जातियों से हुआ। हमारी आबादी का बहुसंख्यक हिस्सा इन्हीं मध्यवर्गीय जातियों से मिलकर बना है। जाति–व्यवस्था का यही सबसे बड़ा आधार है, जैसे कि बाद में यह भूमिका राज्य निभाने लगा है।

जातियों की तीसरी श्रेणी इस पृथ्वी पर सबसे बदनसीब व अभागी हैं। राज्य द्वारा कानूननिर्मात्री सभाओं (विधानसभा, संसद व सरकार) में प्रदर्शन हेतु बिठाए गए इन जातियों के लोगों के सिवा इन जातियों के लोग सर्वाधिक दयनीय, गरीब और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े हुए हैं। हममें से अधिकतर लोग इससे परिचित हैं कि इन जातियों के लोग किन–किन घृणित परिस्थितियों के बीच रहते हैं; हमें इसका विस्तार से उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रत्येक भारतीय एक विशिष्ट जाति में जन्म लेता है, जो उसके जन्म और विवाह द्वारा निर्धारित होती है, जबकि दुनिया के अन्य लोग भिन्न–भिन्न धर्मों में जन्म लेते हैं (जाति में नहीं!)। कोई भी व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वासों को परिवर्तित कर सकता है। परंतु कोई भी व्यक्ति अपनी जाति नहीं तब्दील कर सकता। हम जानते हैं कि इस ब्रह्मांड की प्रत्येक आधारभूत वस्तु में परिवर्तन होता रहता है। फिर प्रश्न उठता है कि आखिर जाति–व्यवस्था के मूल में ऐसा क्या है जो उसे खत्म नहीं होने देती, जबकि यह लोगों की प्रगति के रास्ते में अवरोधक के रूप में खड़ी है, यहां तक कि अच्छी संस्थाओं व कल्याणकारी राज्य के निर्माण तक में बाधक है।

गौर से देखें तो हम पाते हैं कि जाति–व्यवस्था ने लगभग सभी युगों में शासक–वर्ग के हितों का पोषण किया है। यह हित–पोषण कभी तो सांस्कृतिक उच्चता के मिथक के आधार पर हुआ है तो कभी शक्ति–प्रदर्शन के आधार पर। ध्यान देने की बात है कि हमारे वर्तमान समय के शासक–वर्ग अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में कई गुना अधिक चालाक हैं। आदिम संचयन युग से लेकर अतिरिक्त श्रम के शोषण की वर्तमान व्यवस्था के युग तक शोषण–पद्धति अधिक से अधिक परिष्कृत होती चली गई है और कम–से–कम क्रूरतम हो गई है। भारतीय बौद्धिकता की इस धूर्तता की तुलना शायद ही किसी अन्य देश की बौद्धिकता से की जा सके। यह उपनिषद् के ही श्रेष्ठ ऋषि–मुनि थे, जिन्होंने एक ईश्वर की कल्पना कर दी, जो किसी भी अनुभव से परे था। यह भारतीयों का आदिम पिछड़ापन है कि उच्च पढ़े–लिखे व्यक्ति, वैज्ञानिक आदि भी अपने ईश्वर व अपनी जाति को अमेरिका तक ले जाने से नहीं चूकते। हमारे देश के शासक सच्चे अर्थों में प्रवाकंस के अनुयायी है, उनमें विश्वास करते हैं और उनके माध्यम से आदिवासी पंचमों में अपने वोट–बैंक को सुनिश्चित करते हैं।

जाति–व्यवस्था की तीसरी श्रेणी के पीड़ित लोगों की सहायता के लिए शासक–वर्ग ने विभिन्न उपाय किए हैं। लेकिन यह भौतिक (आर्थिक) सहायता जाति–व्यवस्था की कटुता का सामना करने के लिए अपर्याप्त है।

हमारे यहां की विवाह–पद्धति हमें इस बात के लिए मजबूर करती है कि हमारा जन्म जाति–व्यवस्था में हुआ हो। राज्य भी हमें शक्ति और शस्ति द्वारा जाति–व्यवस्था के भीतर रहने पर मजबूर करता है। यह हमें विरोधाभासी प्रतीत हो सकता है, लेकिन हममें से प्रत्येक व्यक्ति इस मामले में सच्चाई जानता है। निम्न जाति में हुआ जन्म राज्य द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली आभासी किस्म की सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए 'पासपोर्ट' की तरह है।

गांवों में निम्न जातियों के लोग भूमि स्वामियों के प्रभुत्व के अंतर्गत रहते हैं; इन भूमिपतियों द्वारा निम्न जाति के उन्हीं लोगों को सहायता मिलती है, जो जाति–प्रथा के अंतर्गत होते हैं। इसके साथ–साथ इस मामले में वर्गीय प्रभुत्व भी बरकरार रहता है। गांवों की उच्च जातियां इस सामंती वर्गीय प्रथा को निरंतर मज़बूत करती जाती हैं। इस उच्च–वर्ग में गांवों के नए धनी व राजनीतिक प्रभुत्वशाली लोग सम्मिलित होते हैं उच्च–वर्ग के लोग अपने प्रभाव के द्वारा निम्न जातियों को प्राप्त होने वाली रियायतों का बड़ा हिस्सा स्वयं हथिया लेते हैं। अनुदान व ऋण देने वाली संस्थाएं–बैंक आदि स्थानीय भूमिपतियों के प्रभाव में होती हैं। ये भूमिपति व स्थानीय राजनीतिज्ञ ही (एक प्रकार से) निम्न जाति के लोगों को अनुदान और ऋणों को देने के लिए सिफारिशें करते हैं, और बाद में इस रकम का एक हिस्सा स्वयं के लिए रख लेते हैं, जबकि इस बीच निम्न जाति का व्यक्ति उक्त पूरे धन का ऋणी हो जाता है। इस तरह भूमिपति अपने प्रभाव व शक्ति के फलस्वरूप फायदा उठाते रहते हैं, और रियायतें प्रदान करने वाला कानून एक ढकोसले में तब्दील हो जाता है। ये भूमिपति ही सत्ता में विद्यमान पार्टी के लिए वोट–बैंक का आश्वासन भी निर्मित करते हैं। यह अत्यधिक विरोधाभासी है कि अधिकतर दमित व शोषक–वर्ग ही सत्ताधारी का सबसे बड़ा वोट–बैंक होता है। शासक–वर्ग के सभी सांस्कृतिक उपागम जैसे धर्म, ईश्वर, त्यौहार और फिल्में आदि सब निम्न जाति वर्ग को झूठी संतुष्टि और भ्रम में रखते हैं। मीडिया भी इस अंतहीन प्रोपेगंडा को बरकारार रखता है, जिसमें निम्न जाति वर्ग के लोग अपनी बेड़ियों को विस्तृत किए हैं।

निम्न जाति–वर्ग के ये सभी लोग स्वयं को आदिम संस्कृति से संबद्ध मानते हैं और इस कारण वे अपने स्थानीय गांव व जाति–व्यवस्था पर आंसू नहीं बहा सकते हैं। यदि इन लोगों को शहरी क्षेत्र में छोड़ दिया जाए तो अस्वाभाविक नहीं कि वे स्वयं को असहाय पाएंगे। सफाई निरीक्षक के अंतर्गत वे वहां सबसे अच्छा काम झाड़ू वाले का ही पा सकते हैं।

जाति व्यवस्था का सबसे प्रतिकूल प्रभाव निम्न जाति के व्यक्ति पर ही पड़ता है और शासक–वर्ग के वैयक्तिक हित सबसे अच्छे ढंग से तभी पूरे होते हैं, जब यह व्यवस्था स्थायित्व ग्रहण करे।

समस्त मानवीयता एक बार आदिम व्यवस्था से होकर गुजरी है। पश्चिम के आधुनिक और विकसित देशों में अ–आदिमीकरण (De-tribalisation) की प्रक्रिया पूरी हो चुकी है और वे सामाजिक विकास की उच्चतर अवस्था में है। वही भारत में यह संक्रमण इसकी अपनी ऐतिहासिक अवस्थिति के कारण पूरा नहीं हो पाया है। उत्तर पूर्व और झारखंड के साथ मध्य प्रदेश, बिहार और उड़ीसा के कुछ हिस्सों में रहने वाले जनजातीय लोगों के आचार–व्यवहार व संस्कृति में अतीत की तुलना में जरा–सी भी अंतर नहीं आया है। भारत के अन्य हिस्सों में, यद्यपि अधिक नहीं, लोग एकदम पुराने ढर्रे पर ही जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

अपने उत्पादक संबंधों में अनुसूचित जातियां अर्द्ध आदिवासी हैं। वहीं अपने सांस्कृतिक संबंधों में पूर्ण आदिवासी हैं। उनकी आर्थिक गतिविधियां बिल्कुल खेत–मजदूर की तरह हैं, जो नियमित या दिन–प्रतिदिन की मजदूरी पर निर्भर हो। इनमें से अधिकतर गांवों के बाहर अलग क्षेत्र में रहते हैं। इनमें से कुछ गांवों से कस्बों या शहरों में चले गए हैं। वहां भी वे सफाई करने के सिवा अन्य कोई कार्य/रोजगार नहीं प्राप्त कर पाते। यह बिल्कुल असंभव है कि इन लोगों को कोई अन्य रोजगार प्राप्त हो जाए उनकी सांस्कृतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि उन्हें शिक्षित होने से रोकती है और इस तरह वे सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जा रही रियायतों/सुविधाओं का लाभ प्राप्त करने में सक्षम नहीं रह जाते। इन व्यक्तियों की जाति ही भिन्न किस्म का रोजगार प्राप्त करने में, गांवों को छोड़ने में या शिक्षा प्राप्त करने में सबसे बड़ा अवरोध है। अतीत में नियम था कि शूद्रों को शिक्षा नहीं प्राप्त करनी चाहिए, वहीं अब वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

अपने राजनीतिक जीवन में यह लोग शासक–वर्गों और उच्च जातियों के हाथों के खिलौने है। एक दिन की भोजन–प्राप्ति या कुछ रुपयों के लिए यह लोग अपने शत्रु को अपना वोट दे देते हैं। आरक्षण एक नई किस्म की जाति–व्यवस्था है, जो उन्हें उच्च जातियों के मालिकों के दासों में तब्दील कर रही है और संसद या विधान सभाओं में भी वे इन उच्च जातियों के हाथों की कठपुतली के समान हैं। इन दलित जातियों का अस्तित्व समाज की मुख्य धारा से पृथक परिभाषित किया जाता है।

इन लोगों का धार्मिक जीवन हिन्दुओं के धार्मिक जीवन से भिन्न होता है। उनके देवता भी गिनती के हैं। ये देवता या तो उनके पूर्वज हैं या हिंदू मूर्तिपूजकों के देवताओं से भिन्न हैं। इन जातियों के देवता अधिकतर स्त्रियाँ हैं। जैसे पट्टालधम्मान, मारी और मकाली आदि। पुरुष देवता करूप्परायन, कथवरयन और मथुराइ वीरन्वेरे को देवताओं में भी श्रेष्ठता प्राप्त है। निम्न जातियों के देवताओं की मिट्टी से बनी मूर्तियां कच्ची दीवारों से घिरे छोटे से स्थान पर रखी जाती हैं, जिन पर छतें भी नहीं होती हैं। इन देवताओं के लिए मनाए जाने वाले वार्षिक उत्सवों में बकरी या मुर्गे की भेंट चढ़ाई जाती है। ये देवता स्पष्ट रूप से निम्न जातियों के अपरिवर्तनशील जीवन को प्रतिबिंबित करते हैं।

इनकी सांस्कृतिक गतिविधियां ग्रामीण क्षेत्रों की मध्यमवर्गीय जातियों के लोगों का अनुकरण होती हैं। इन निम्न जातियों के पास पराई (Parai) या थापत्ताई (Thappatti) नामक वाद्ययंत्र होता है और प्रत्येक इस वाद्य को बजा लेता है (यानि पीट लेता है)। यह भी अतीत के आदिम उन्माद की प्रतीक है। वे गांवों में मनाए जाने वाले प्रत्येक उत्सव में अपने पराई वाद्य के साथ ही भाग लेते हैं। उच्च जातियों के व्यक्तियों की मृत्यु पर आयोजित होने वाले मृत्यु–संस्कार में निम्न जाति के व्यक्ति भाग लेते हैं, जिसमें वे पराई को पीटते हैं और लयबद्ध रूप से पैरों के संचालन द्वारा नृत्य करते हैं। पंडाल लगाने से लेकर लकड़ी चीरने तक के समस्त प्रारंभिक कार्य ये निम्न जाति के लोग ही करते हैं। वहीं अन्य जातियों के लोग भी अपने जाति अनुरूप कार्य करते हैं। नाई, धोबी, कुम्हार, लोहार, बढ़ई अपनी जाति के अनुरूप कार्यो को अंजाम देते हैं और पारिश्रमिक के रूप में भोजन से ज्यादा कुछ नहीं पाते हैं। इन जातियों के लोगों को भोजन तब प्राप्त होता है, जब उच्च जातियों के लोग भोजन कर चुकते हैं। अन्य जातियों के लोगों को घरों में जाने की अनुमति होती है, वहीं निम्न जातियों के लिए घर के बाहर का स्थान निर्धारित होता है। पंचम घर के बाहर ही रहते हैं। विवाह आदि समारोहों में इनकी उपस्थिति निषिद्ध है, जबकि विवाह आदि संस्कारों में निम्न जातियों के लोगों के लिए जाति अनुरूप कार्य करना निर्धारित रहता है। ये लोग किस तरह अपने आदिम अतीत से संबद्ध हैं, गांवों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। निम्न जाति के लोग अपने साथ किए गए व्यवहार से अप्रसन्न तक नहीं हो सकते हैं। निम्न जातियों के लोग अपने लिए निर्धारित कार्यों को पूरा करने में ही गर्व की अनुभूति करते हैं। ये लोग विभिन्न संस्कारों में स्वयं की होने वाली अवमानना के प्रति कभी चेतनशील नहीं होते। इन लोगों के लिए सबसे बड़ा ईनाम भोजन ही होता है।

क्या स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद निम्न जातियों के दैनिक जीवन में कोई परिवर्तन हुआ है? साथ ही–साथ क्या आधुनिकीकरण का कोई प्रभाव इन लोगों पर पड़ा है? इस प्रश्न का उत्तर तो सकारात्मक है, लेकिन इस प्रभाव का रुख नकारात्मक दिशा में है। अतीत में निम्न जातियों के लोगों का शोषण सामंतवाद द्वारा किया जाता था। वहीं अब इन लोगों का शोषण अप्रत्यक्ष रूप से पूँजीवादी देवता कर रहे हैं। बीड़ी, चाय व सिनेमा के साथ कस्बे तक जाने के लिए कभी–कभार बस की सवारी और शराब इन जातियों को भ्रम में रखने के नए साधन हैं, सूदखोर और डॉक्टर इन लोगों के लिए मित्र हैं। रेडियो के आविष्कार के साथ मंदिरों में होने वाले उत्सवों ने इन लोगों के जीवन में नए देवताओं का प्रवेश करवाया है, जिसकी चकाचौंध में ये लोग मेहनत से कमाए गए पैसों को उड़ा देते हैं और

भ्रम व कृत्रिमता को बढ़ावा देते हैं। शोषकों के लिए इन लोगों की मुक्ति का कोई लक्ष्य नहीं है। फिर किस तरह इन लोगों का उद्धार होगा?

tkfriFkk dk mn; vkj bldk fodkl

हमें उन ऐतिहासिक शक्तियों की खोज करनी चाहिए, जो जातिप्रथा जैसी परणासन्न सामाजिक–व्यवस्था को जीवित रखे हुए हैं? इसका कैसे उदय हुआ? ऐतिहासिक भौतिकवाद हमें वह आधारभूत जानकारी उपलब्ध करता है, जिससे हम पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर प्राप्त कर सकें।

इस परिप्रेक्ष्य में मानवीय इतिहास की शुरुआत से मानवीय समाज में आए परिवर्तनों से हमारा सरोकार है और इसमें भी विशेषकर इस बात से है कि ये परिवर्तन क्यों और कैसे हुए? पूरे विश्व में मानवीय विकास की एक सामान्य रूपरेखा विभिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित है। पशु अवस्था से मनुष्य में रूपांतर होने के बाद एक लंबे समय तक मनुष्य भोजन संग्राहक ही रहा और यह स्थिति एशिया–यूरोप या अफ्रीका हर कहीं रही। संख्या बढ़ने के साथ मनुष्य पर्याप्त मात्रा में भोज्य पदार्थ एकत्र करने में सक्षम नहीं रहा, तब मनुष्य ने भोजन के लिए शिकार करना प्रारंभ किया। मनुष्य न तो हिरन की तरह तेज दौड़ सकता था (है), न ही वह शेर की तरह शक्तिशाली ही था (है), इसलिए उसने सामूहिक रूप से शिकार करने के तरीके को विकसित किया। इस तरह सामूहिकता का विकास हुआ। एक ऐसा भी समय आया कि शिकार और मछली मारने से भी समूह के लिए पर्याप्त भोजन नहीं उपलब्ध हो पाता था, तब उसने पशुचारण शुरू किया। समूह के स्थान की सुविधा के लिए विवाह–पद्धति ने आकार ग्रहण किया। अब पशुचारण योग्य जानवर संपत्ति थे। पशुओं की चोरी करना पशुचारण से ज्यादा आसान था। इसलिए पशुओं की सुरक्षा की दृष्टि से स्थानीय समूहों ने साथ–साथ रहना शुरू किया, जिसमें वे पशु–समूहों की चोरी को रोक पाए। एक ही रक्त–संबंध वाले समूह को वंश कहा गया और वंशों का समूह कबीला कहलाने लगा।

हथियारों को पत्थर, लकड़ी और हड्डियों से बनाया जाता था। ये हथियार सामूहिक प्रयोग के लिए आवश्यक वस्तुएं थीं, जिसे वंश अपने अतिरिक्त समय में बनाते थे। इन लोगों के लिए बर्तन और कपड़े जैसी 'आधारभूत आवश्यकताएं' वैयक्तिक श्रम द्वारा पूरी हो सकती थीं, जो विशेषकर महिलाओं द्वारा किया जाता था।

गांवों में हस्तशिल्प के अन्य कार्य एकक परिवारों द्वारा किए जाते थे, जो मुख्य रूप से कृषक कार्य–करते थे। किसानों की संख्या ही अधिक नहीं थी, बल्कि वे अधिकतर काम ही कृषक का करते थे। समय के साथ–साथ वे महत्त्वपूर्ण होते चले गए और उन्होंने अपनी ऐतिहासिक अनिवार्यता स्थापित कर ली। इन प्रभुत्वशाली परिवारों के बड़े–बुजुर्ग बाद में अपने समुदाय के प्रमुख के रूप में स्थापित हो गए। इसी के साथ ये प्रमुख अपने प्रभुत्व और प्रभाव को उपज बंटवारे से लेकर न्याय देने तक के मामलों में करने लगे, स्तरीकृत व्यवस्था में यह एक नकारात्मक परिवर्तन था।

यहीं एक प्रश्न उन्पन्न होता है। एक बढ़ई, लोहार, कुम्हार, मिस्त्री और पुरोहित ने अंतर्जातीय विवाह–प्रथा के अंतर्गत पत्नियां कैसे प्राप्त की होंगी, जबकि कुछ प्रतिबंधित व्यवसायों वाले समूह से दुल्हन (स्त्री) प्राप्त करना प्रतिबंधित था। किस तरह कुछ खास व्यवसाय वाले समूहों में वधुओं और दूल्हों की अतिरिक्तता या कमी को पूरा किया गया होगा? यह समस्या तभी हल हो सकती है, जब हम इस तथ्य की ओर इशारा करें कि गांव अपने आदिम–आदिवासी संबंधों से बंधे हुए थे। इस कठिनाई के सिवा अंतर्जातीय विवाह–पद्धति ने उन बहिर्जातीय विवाहों के लिए मार्ग खोल दिया होगा, जो कई गांवों के एक खास क्षेत्र के भीतर होते होंगे।

या तो आदिम कबीले अपने पड़ोसी कबीले से अपने क्षेत्र की सीमा–विस्तार के लिए संघर्ष करते होंगे या फिर अन्य कबीलों की मध्यस्थता से अपनी समस्याओं का निबटारा करते होंगे। उदाहरणस्वरूप वज्जियों का संघ।

आदिम स्तर तक तो विवाद का स्वरूप मित्रवत् ही होगा, और वे शांतिपूर्वक सुलझा भी जाते होंगे। लेकिन कबीलों के बीच उत्पन्न हुए विवाद निश्चित तौर पर शत्रुताओं को जन्म देते होंगे और संघर्षों को बढ़ाने के लिए जिम्मेदार होंगे। ऐसे समय में कबीले योद्धा कैसे पाते होंगे? स्वाभाविक रूप से योद्धा कबीले के युवा व्यक्ति होते होंगे। इनका नेतृत्व कौन करता होगा? स्वाभाविक रूप से कबीले का निर्वाचित प्रमुख उनका नेतृत्व करता होगा। धीरे–धीरे इन प्रमुखों की जगह सलाहकार समितियों ने ले ली। लेकिन युद्ध में युवाओं का नेतृत्व करने के लिए अत्यधिक साहसी और शक्तिसंपन्न व्यक्ति की आवश्यकता होती होगी। इसलिए स्वाभाविक ही है कि कबीले का प्रमुख या गणपति लंबे समय तक लोगों की पसंद का रहा होगा, और यह पद आनुवंशिक होता गया होगा।

संगम–साहित्य में योद्धाओं, सलाहकारों और प्रमुखों की नियुक्तियों के वर्णन दिए हुए हैं। साथ ही साथ बड़े शौर्यपूर्ण ढंग से अगानरू और पुरानमुरू के रूपक पर आधारित प्रेम और युद्ध के संघर्षों के विवरण दर्ज हैं।

अमरीकन इंडियन (Red Indian) आदिवासियों का सामाजिक संगठन बिल्कुल इसी प्रकार का है। 'माया' और 'इंका' जैसे विकसित आदिवासियों के गांवों की संस्कृति भारतीय आदिवासी गांवों की संस्कृति से ज्यादा विकसित है। यह तब की बात है। जब वे कृषि–कार्य करने लगे।

यद्यपि लंबे समय तक उत्पादन–पद्धति और सामाजिक–व्यवस्था अपरिवर्तित रही, लेकिन मनुष्य इतिहास का यंत्र रहा और बहुत हद तक ऐतिहासिक प्रक्रिया का विषय भी। इतिहास की संचालन–शक्ति प्रकृति की द्वंद्वात्मकता है। इस कारण कृषि व हस्तशिल्प उत्पादन–पद्धति में आए परिवर्तनों ने भविष्य के परिवर्तनों के लिए मार्ग खोला। साथ ही साथ उसके संपीड़ित संबंधों ने अधिकाधिक संपत्ति और उत्पादन का सृजन किया। इसी के परिणामस्वरूप कस्बों और शहरों का उदय हुआ, जहां हस्त शिल्पकारों ने कृषि–कार्य से स्वतंत्र होकर अपने कार्य को करना शुरू किया कला, शिल्प उत्पादन व विनिमय में विविधता के परिणामस्वरूप व्यापारिक–जगत् और ऐश्वर्यपूर्ण वस्तुओं की उत्पादक जाति का जन्म हुआ। अधिकतर उत्पादन शोषक–वर्ग, जो कि राज्य की उत्पत्ति के बाद पुरोहित–वर्ग था, की सांस्कृतिक या सुविधाओं की जरूरतों को पूरा करने के लिए होता था। इस तरह से उच्च–वर्ग अस्तित्व में आया।

यह भी एक तर्क है, जिसके साथ मैं (लेखक) सहमत नहीं हूँ।

पराजित कबीले के लोग स्वेच्छा से या बलपूर्वक विजित जातियों में सम्मिलित किए गए होंगे, जो गांवों की निम्न जातियों के रूप में होंगे और इसी तरह गांवों की अन्य अनुत्पादक भृत्य जातियां।

अपेक्षाकृत कम सभ्य कबीले पराजित हुए और कैद कर लिए गए, जिन्हें बाद में गांवों के बाहर बसा दिया गया। इनमें से जो लोग जंगल भाग गए, स्वेच्छा से अपने संगी–साथियों के साथ आ मिले। उन्हें कैद कर लिया गया और घरेलू दास बना लिया गया। ये अछूत (बाद में पंचम) कृषक–जीवन के साथ निश्चित आवास और भोजन के प्रति अभ्यस्त होते चले गए। उन्होंने खतरों और भुखमरी वाले इस घुमंतू जीवन को पहले के जीवन से बेहतर माना। वर्तमान समय में भी इस तरह के उदाहरण हैं कि गांवों के गरीब शहरों में गए और वहां की झोपड़पट्टियों में बसने लगे।

बंबई और कलकत्ता जैसे महानगरों के स्लम–क्षेत्र इस बात के बेहतर उदाहरण हैं, जहां झुंड–के–झुंड पढ़े–लिखे बेरोजगार लोग रहते हैं।

जंगलों में रहने वाले इन कबीलों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बहुत अधिक पिछड़ी हुई थी। उन्होंने जंगली जीवन जीने की अपेक्षा अछूत बनकर रहना अधिक पसंद किया। यहां तक कि इन दिनों भी गांवों के अछूत मानवीय गरिमा के प्रति सचेत नहीं हैं, ये लोग ऊंची जाति के लोगों के मृत्यु–संस्कार या विवाहोत्सव में मात्र भोजन–प्राप्ति के लिए अमानवीय, अमर्यादित व्यवहार/कार्यकलाप करते हैं।

हम अपने शोध को आगे बढ़ाते हैं :

हम बेहिचक इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि अछूत–प्रथा की गैर–समतावादी व्यवस्था गांवों की जातिप्रथा के अंतर्गत अचानक श्रम–विभाजन के रूप में सामने नहीं आई। इन लोगों के लिए कुछ विशिष्ट कार्य जैसे पशुओं का वध, पशुओं की खाल उतारना, चमड़ा कमाना, शव–क्रिया और शव–संस्कार, गांव की गलियों की सफाई आदि कार्य निर्धारित है। इस तरह से भारतीयों का यह सामाजिक हिस्सा या विशेषकर द्रविड़ गांवों का संगठन पूरे विश्व में विशिष्ट होता गया है। यह द्रविड़–संस्कृति का प्रतिफलन है, न कि भारोपीय आर्यों की संस्कृति का, जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं।

vk;&o.k dk fodkl

आदिम समाज एक व्यवस्थित जीवन नहीं व्यतीत करता था। एक सीमित क्षेत्र में शिकार किया जाता था। जंगली पशु जिस भूमि पर से होकर गुजरते थे, वहां ऊंचे–ऊंचे बाड़े बनाकर उन्हें पकड़ा जाता था। इस तरह से मध्य एशिया में रहने वाले आर्य पश्चिमी यूरोप से दक्षिण में मेसोपोटामिया, भारत तक पहुंचे।

उक्त देशों के आदिवासियों को भारत व चीन जैसी विस्तृत और उपजाऊ भूमि पर एक स्थिर जीवन की संभावनाएं दिखाई दीं। इस तरह से आदिम आर्य–व्यवस्था से कृषक–अर्थव्यवस्था में प्रवेश करना पहली महान सामाजिक क्रांति थी। कृषि ने जीवन को सुरक्षा प्रदान की।

कृषक–सभ्यता शुरू होने से पहले तक मानवीय समाजों में परिवर्तन की रूपरेखा प्रतीकात्मक है। प्राचीन विश्व में कृषक समुदायों से सामंती समुदायों तक परिवर्तन भिन्न दिशामुखी था। सुमेरियन, मेसोपोटामियन, मिस्त्री, यूनानी–रोमन साम्राज्य और नगर–राज्य सामंती राज्य–व्यवस्था से भिन्न थे, जो यूरोप में बाद में उत्पन्न हुए।

यूरोप में भी आर्यों के तरीके की वर्णिक व्यवस्था जैसे पुरोहित, सामंत, येमोन और सर्फ की व्यवस्था थी। वर्ण एक राजनीतिक समाज था, जहां कुछ लोग कई लोगों का शोषण करते थे। वहीं जाति एक जनजातीय समाज–व्यवस्था थी, जो समता पर आधारित थी। विज्जियन के आदिवासी लोग और उत्तरी लोग समता आधारित अपनी स्वतंत्रता के लिए वर्णों के विरुद्ध लड़े। आर्यों के साम्राज्यों द्वारा उन्हें पराजित कर दिया गया (अर्थशास्त्र)। विजेताओं क्षरा वर्ण–व्यवस्था का प्रभाव गांवों की आदिम (जनजातीय) व्यवस्था पर जाति की असमानता के रूप में पड़ा। आर्यों की उच्च संस्कृति के प्रभावस्वरूप जाति–व्यवस्था और इसके उप–विभाजन बाद में अपनाए गए। तीनों उच्च वर्णों में कई जातियां थी। पंचमों की अनुकृति स्वरूप वे कई जातियों में विभाजित हो गए। इसके साथ भिन्न–भिन्न किस्म के गंदे कामों को करने के आधार पर श्रम–विभाजन हो सका।

पूर्वोक्त के समानांतर भारोपीय आर्यों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों आदि की व्यवस्था का उदय हुआ, जहां शासक–वर्ग भी समान कार्य करता था।

यूरोपीय व्यवस्था–भारतीय व्यवस्था से केवल इस तरह भिन्न थी कि वहां उच्च–वर्ण में संक्रमणशीलता थी (गतिकी थी)। ब्राह्मण पुरोहितों में विद्यमान सख्त सगोत्रीय विवाह–पद्धति, आनुवंशिक रूप से पुरोहितों को सुरक्षित रखने के साथ इस बात को भी सुनिश्चित रखने के लिए थी कि एक पीढ़ी से लाभ देसरी पीढ़ी को ही जाए और इस तरह व्यवस्था में नए लोगों का प्रवेश रोका जा सके। कैथलिक पुरोहितवाद में स्व–आरोपित ब्रह्मचर्य उर्ध्व गतिकता को अनुमति देता है। येमोन भी पुरोहित, सामंत या और भी कुछ बन सकते थे (हैं)। भारोपीय आर्य–वर्ग सगोत्रीय विवाहों के द्वारा एक बंद व्यवस्था में रहते हैं, जिसमें नए लोगों का प्रवेश वर्जित किया गया है। द्रविड़ीय गांवों की सामाजिक–व्यवस्था में जाति–व्यवस्था इस पर एक आरोपित व्यवस्था के समान थी।

जिस तरह पश्चिम में पुरोहितपन, सामंत और येमोन की व्यवस्था है, उसी तरह आर्य सभ्यता ने भी इसे विकसित किया। जिस तरह पश्चिम में 'सर्फ' होते थे, बिल्कुल उसी तरह द्रविड़ों के ऊपर विजय के बाद भारत में दास या शूद्र थे।

उत्तर भारत में इस तरह की गतिविधियों के साथ आर्य कबीलों ने धीरे–धीरे मध्य और उत्तरी भारत पर अपनी बढ़त जमा ली। साथ ही साथ अपनी आबादी में भी बढ़ोत्तरी की और इस तरह उत्तर–पश्चिम क्षेत्र से लोग अधिक–से–अधिक इस व्यवस्था में सम्मिलित हुए और उत्तर क्षेत्र के आदिवासियों के विरुद्ध प्रतिरोध की शुरुआत की। हमें पशुचारण सामाजिक–व्यवस्था में आए परिवर्ततनों पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

आर्य साहसी चिंतक थे। ऋग्वेद उनकी प्रारंभिक बौद्धिकता का ही प्रतीक है। वे अच्छे जीवन से प्रेम करते थे। वे विश्वास करते थे कि प्रकृति की आत्मा अथवा वर्षा, अग्नि, हवा और अन्य देवता तब उनके पक्ष में कार्य करेंगे, जब वे उनको अच्छे भोजन और उपहारों की भेंट चढ़ाएंगे और उनकी प्रार्थना करेंगे।

आर्यों में पुरोहित–वर्ग का उदय यज्ञ–कार्य संपादित करने और प्रार्थनाएं करने के लिए हुआ। बाद में प्रार्थनाओं में विशिष्ट किस्म की बलि आदि दी जाने लगी। इसके साथ–साथ मंत्र आदि से देवताओं आदि को प्रसन्न करने का भी प्रयास शुरू हुआ। मंत्र इस बात को प्रतीकित करते थे कि पुरोहित देवताओं से क्या प्राप्त करना चाहते थे।

धीरे–धीरे मंत्र विशिष्ट अर्थों में परिवर्तित होने लगे, जिनका उच्चारण केवल पुरोहित ही कर सकता था। इस तरह से पुरोहितों की शक्ति में सतत् प्रसार हुआ। जानवरों और घोड़ों के रूप में उन्हें संपत्ति दी जाती थी।

हम पूरे इतिहास का लेखा–जोखा जीवन के संघर्ष के एकरेखीय सूत्र में नहीं कर सकते। मनुष्य और जानवर के बीच मुख्य अंतर यह है कि मनुष्य उत्पाक है, वहीं जानवर संग्राहक है। मनुष्य का इतिहास अस्तित्व के लिए संघर्ष मात्र नहीं है।

पूर्व वैदिक आर्यों का आर्थिक–जीवन पशुचारण पर आधारित था। इसके विपरीत द्रविड़ों का आर्थिक–जीवन कृषि पर आधारित था। इसलिए स्वाभाविक रूप से पुरुष–सत्ता का उदय हुआ। पशुओं के बड़े–बड़े रेवड़ों को मात्र कुछ व्यक्ति नियंत्रित करते थे। बाकी बचे व्यक्ति कबीले के प्रमुख के नेतृत्व में संगठित होते थे और दूसरे कबीलों से लड़ते थे, उनके पशुओं को छीन लेते थे। इस तरह से इनमें भी एक योद्धा–वर्ग का उदय हुआ। साथ ही साथ कबीले के प्रमुख का राजा के रूप में विकास हुआ।

एंगेल्स के अनुसार, लोगों का सैन्य–प्रमुख धीरे–धीरे एक अनिवार्य और नियमित अधिकारी के रूप में तब्दील होता गया। जहां पर सामान्य सभाएं नहीं थीं, वहां भी उनका उदय हुआ। सैन्य–प्रमुख, समिति और सामान्य सभाओं से मिलकर समाज में सैन्य–लोकतंत्र की व्यवस्था पनपी, क्योंकि इस समय तक युद्ध और युद्ध के लिए संगठन मनुष्य के जीवन का अनिवार्य अंग बन गया था। वे जंगली थे। उन लोगों में लूटमार की प्रवृत्ति आ गई थी और यह उत्पादक कार्यों से ज्यादा प्रतिष्ठापूर्ण कार्य था। किसी भी चढ़ाई या हमले का सर्वश्रेष्ठ प्रतिकार युद्ध था और युद्ध का एक तात्पर्य राज्य–सीमा को विस्तृत करना भी था..... नेतृत्व सबसे पहले आनुवंशिक हुआ, जिसे पहले उदारतापूर्वक दिया गया। बाद में उसका दावा किया गया और अंततः हथिया लिया गया।

अब पुरोहित–वर्ग के दृष्टांत की ओर आना चाहिए। पूर्व वैदिक काल के पुरोहितों का मुख्य कार्य प्रार्थनाएं करना और देवताओं को भेंट चढ़ाना था। बाद में जब संपत्ति बढ़ने लगी और कबीले के प्रमुख राजा होने लगे, पुरोहित ब्राह्मणों में तब्दील होने लगे। पुरोहितों के ब्राह्मणों में तब्दील होने के साथ उन्होंने स्वयं को एक अन्य विशिष्ट वर्ग में समेकित कर लिया, सामंत या क्षत्रिय तो लूटमार के आधार पर स्थापित हुए। ध्यान देने की बात है कि मानसिक श्रम की श्रेष्ठता स्थापित हो जाने के कारण ब्राह्मणों ने स्वयं को क्षत्रियों से श्रेष्ठ साबित किया। वैदिक पुरोहित बलि और संस्कार करने में पर्याप्त श्रम करते थे। बाद में ब्राह्मणों ने केवल मध्यस्थ की भूमिका अपना ली और स्वयं को शारीरिक श्रम से बिल्कुल दूर कर लिया। वैदिक–युग में 'विश्वास–रक्षक' पुरोहितों ने दृष्टा की भूमिका अपना ली। यह उनकी मानसिक शक्ति थी कि राजाओं की शक्ति और संपत्ति में उन्होंने भागीदारी की। जहां पहले के पुरोहित मंत्रों आदि से देवताओं का आह्वान करते थे, वहीं अब वे तप और यज्ञ के द्वारा ऐसा करते थे। इसलिए समय के साथ उनकी शक्ति सर्वोच्च होती चली गई वहीं उनका मस्तिष्क समस्त बुद्धिमत्ता का प्रतीक हो गया और इस तरह शारीरिक श्रम के ऊपर मानसिक श्रम की श्रेष्ठता स्थापित हो गई। ब्राह्मण और क्षत्रिय, इन दोनों वर्गों में शक्ति के लिए संघर्ष हुआ। बाद में अंततः दोनों में समझौता हो गया। इस तरह से हिंसा से दूर लूटमार द्वारा हड़पे गए शारीरिक श्रम के अतिरिक्त भाग पर लुटेरों के साथ मानसिक श्रम/कार्य करने वालों की भी हिस्सेदारी स्थापित हो गई। यह मानसिक श्रम विभिन्न वर्ग के लोगों के विश्व–दृष्टिकोण को निर्मित करता था। कर्म और धर्म के अनुसार ईश्वर और धर्म के प्रति निम्न–वर्गों के दायित्वों को निर्धारित करता था। साथ ही साथ अभिजात्य–वर्ग के लिए दर्शन का भी निर्माण करता था। यद्यपि हमारे अर्द्ध आदिवासी भारतीय समाज में अभिजात्य वर्गीय व पढ़े–लिखे व्यक्ति भी कई देवताओं की पूजा, जातिप्रथा, कर्म, धर्म और कर्मकांड के विभिन्न प्रकारों के साथ धार्मिक विश्वासों के प्रभाव वाले आदिवासी तौर–तरीकों में जीते हैं।

द्रविड़ सामाजिक संगठन की आदिवासी ग्रामीण व्यवस्था में आखिर अब तक क्यों परिवर्तन (विकास) नहीं हुआ है?

1) अतिरिक्त उत्पादन (Surplus) नहीं उत्पन्न हुआ था।

2) अपने उत्पादक–संबंधों में यह जाति के संस्तरीकरण में विभाजित है।

हम देखते हैं कि ग्रामीण समुदाय स्थिर बना रहा, जिससे यहां अतिरिक्त उत्पादन नहीं हुआ, और यही वह कारण है, जिसके कारण इस समाज में शासक–वर्ग का उदय नहीं हुआ। इन कारणों के सिवा कई अन्य कारण भी हो सकते हैं, जिससे यहां शासक–वर्ग नहीं उत्पन्न हुआ। वे अन्य कारण क्या है? वैदिक लोग उदार प्रकृति के माहौल में रहते थे। पुरोहित प्रार्थना करता था, बलि देता था और देवताओं को प्रकृति की वस्तुएं उपहारस्वरूप देने के लिए यज्ञ आदि करता था। द्रविड़ ग्रामीण जनजाति श्रम के द्वारा अपनी आवश्यकताएं पूरी करने में सक्षम नहीं थी। वे प्रकृति में उत्पादन–प्रक्रिया की अनुकृति करते थे। जैसे जादू (संसार के अन्य आदिम लोगों की तरह, प्रार्थना के द्वारा

प्रकृति की अनुकंपा प्राप्त करने हेतु), बलि या मंत्रों द्वारा। प्रकृति को अदृश्य ईश्वर की शक्ति का प्रसार माना गया। द्रविड़ पुरोहितों या जादूगरों या तांत्रिकों के लिए इसने एक भौतिकवादी विश्व–दृष्टिकोण दिया। प्रकृति अति प्राकृतिक नहीं है, इस विषय पर भी व्यक्ति अनुमान लगाने में सक्षम हो सकता है, श्रम या कार्य प्रकृति को उत्पादक बना सकता है, वहीं जादू इस उत्पादन में और वृद्धि कर सकता है, क्योंकि द्रविड़ पुरोहितवाद का भौतिकवादी दृष्टिकोण इसे उस तरह के काम के प्रति असंलग्न नहीं कर सका, जिस तरह से आर्यों में यह हुआ। इसी तरह की पद्धति का विकास चीन के ताओवाद में हुआ, अथवा दक्षिण भारतीय सामाजिक विकास में संगाकलाई सनरोरेस में था। संगाकलाई सनरोरेस बाद में चलकर दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों के रूप में विकसित हुआ। भारत की संरचना और इसी तरह राजा की सत्ता, दो संस्कृतियों द्रविड़ और आर्यों की अंतर्क्रिया का परिणाम है। आर्यों ने जातिप्रथा को द्रविड़ों के ऊपर आरोपित किया।

बाद में कृषि–क्षेत्र में विकसित हुई 'मरुधन संस्कृति' का तात्पर्य विनिमय के लिए वस्तुओं का उत्पादन करना था, जो व्यापारियों, शासकों और ब्राह्मणों के साथ विकसित हुई। बड़े शहरों का विकास उनके वर्गीय विभाजनों को ध्यान में रखते हुए ही हुआ। उत्तर में हुआ धार्मिक व दार्शनिक विकास एक प्रकार से प्रोटो टाइप है, और इसमें किसी भी क्षेत्र में कुछ भी मौलिकता नहीं है। उनके वास्तविक देवता चिरकाल तक आर्य देवता ही रहे, जो हमेशा केंद्रीय भूमिका अख्तियार किए रहे। उपनिषद की तरह का कोई भी दार्शनिक समझौता सामने नहीं आया, जो यह इंगित करता है कि वर्गीय व्यवस्था को उत्तर क्षेत्र से अपनाया गया। प्राचीन तमिल भाषा में लिखे गये साहित्य पूर्णतया ऐहिक (सांसारिक) हैं और वास्तविक जीवन से संबद्ध हैं। इस तथ्य के पर्याप्त प्रमाण हैं कि तमिल, बौद्ध और जैन साहित्यिक परंपरा को अपना सकते थे, लेकिन उन्होंने इन आदर्शवादी दर्शनों की भ्रमात्मकता को नहीं अपनाया। यह बात द्रविड़ों की भौतिकवादी भावना में भी देखी जा सकती है। बाद में तमिलों में विकसित हुई संस्कृति की जड़ें आर्य–सभ्यता में है, जिसे उनके द्वारा महाकाव्यों और सिद्धांतों को अपनाए जाने के रूप में देख–समझ सकते हैं।

tkfr vkj bldk fo#) la?k"kZ

अतीत के समस्त प्रयत्न जातिप्रथा का उन्मूलन दो कारणों से नहीं कर पाए। व्यक्ति के अंतःकरण में विद्यमान जाति के प्रति कट्टरतापूर्ण जुड़ाव ने इस पतित स्थिति को बढ़ाया है, और इस प्रवृत्ति की मित्र गांवों की सामंती उच्च व निम्न जातियां हैं। इन सामंती जातियों ने समाज के बहुसंख्यक वर्ग को धनी वर्ग के हितों को पूरा करने के लिए दमित कर रखा है। इसके साथ जाति का वर्ग में संक्रमण हुआ है और धर्म व अंधविश्वास ने जाति–प्रथा के इस रहस्य को बढ़ावा दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों के राजनीतिज्ञ भी इस मामले मे कम दोषी नहीं हैं। निम्न बहुसंख्यक वर्ग का सांस्कृतिक पिछड़ापन इस वर्ग का सबसे बड़ा शत्रु है। यह उसी प्रकार उनका भीषण शत्रु है, जैसे कि इस वर्ग का गांवों की अर्द्ध आदिम संस्कृति से रहस्यात्मक जुड़ाव है। उनके काम करने और जीवन जीने के ढंग, उनके आदिम रीति–रिवाज, उनके देवता और अंधविश्वासों को अज्ञानतापूर्वक अपनाने के कारण वे स्वाभाविक रूप से जाति से चिपके हुए हैं। सरकार व स्थापित राजनीतिज्ञों के अपने स्वार्थों के कारण यह आंतरिक इच्छा होती है कि जातिप्रथा बनी रहे। इसके साथ–साथ इस व्यवस्था को बरकरार रखने में वह लोग भी जिम्मेदार हैं, जो अपनी भ्रमित चेतना के कारण संवेदनशीलता के साथ जातिप्रथा से जुड़े हुए हैं। इसके साथ–साथ जो लोग इस प्रथा का उन्मूलन करना चाहते हैं, वह भी कभी इसके विरुद्ध सामने नहीं आते हैं। मैं नहीं जानता कि हमारे संविधान में जातिप्रथा के उन्मूलन के लिए अनिवार्य सिद्धांत बनया गया है या इसका नीति–निर्देशक सिद्धांतों में उल्लेख किया गया है। सरकार के समस्त सुधारों और कल्याणकारी उपायों का उद्देश्य आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विषमताओं को दूर करना है, लेकिन इसका उद्देश्य जातिप्रथा का उन्मूलन करना कभी नहीं रहा है। इसकी अपेक्षा सचेतन रूप से या

असचेतन ढंग से वे अपनी शक्तिसंपन्नता को बरकरार रखने के लिए जातिप्रथा को सुरक्षित रखना चाहते हैं। प्रत्येक भारतीय जाति–व्यवस्था में ही जन्म लेता है। कुछ लोग जो इस प्रथा से बाहर आ गए हैं, उन पर सरकार अप्रत्यक्ष रूप से दबाव बनाती है कि वे अपने और अपने बच्चों के हितों के लिए इससे (जाति–व्यवस्था से) बाहर नहीं आएं।

हम जानते हैं कि जातिप्रथा का उन्मूलन सरकारी आदेशों से नहीं हो सकता है। न ही इस बुराई का अंत परिवर्तन के लिए जिम्मेदार वर्गों पर दबाव डालकर किया जा सकता है। हम जानते हैं कि जातिप्रथा का जन्म इसके अपने आर्थिक आधारों पर हुआ और समय के साथ यह एक बुराई का रूप लेकर आधार–संरचना से अधिसंरचना में व्याप्त हो चुकी है। हमारा अनुभव यह भी रहा है कि अधिसंरचना को संबोधित इस संदर्भ में समस्त आंदोलन असफल हो चुके हैं।

चारागाह–भूमि की रक्षा के साथ अन्य चारागाह–भूमियों के अधिग्रहण के लिए योद्धा–वर्ग का उदय हुआ। उसके कार्यों में अन्य गणों या कबीले के पशुओं पर कब्जा कर लेना भी था। इस तरह जो लोग महान योद्धा थे, वे क्षत्रिय कहलाए। वहीं पुरोहित–वर्ग का विकास ब्राह्मण के रूप में हुआ। पहले उनके विवाह बहिर्गोत्रीय होते थे, जो बाद में तब सगोत्रीय होने लगे, जब विशेष वर्ण या वर्ग के ऊपर सीमाओं का आरोपण किया गया। शुरुआती दिनों में ब्राह्मण–क्षत्रिय वर्णों में विवाह होते थे, लेकिन बाद में यह प्रतिबंधित हो गया शेष व्यक्तियों को वैश्य श्रेणी के अंतर्गत रखा गया।

यह परिणाम निकालना उचित है कि वे लोग अब तक कृषि–सभ्यता में नहीं पहुंचे थे। धातु का आविष्कार होने पर युद्ध के लिए हथियार, बर्तन और घर बनाने के साथ वे लोग कृषि–सभ्यता में पहुंचे। व्यापार के लिए जानवरों, घोड़ों के साथ निर्मित वस्तुओं ने वैश्यों के साथ उत्तर–पश्चिम भारत के लोगों की मदद की, और इन लोगों ने दस्युओं को पराजित कर उनकी संपत्ति पर अधिकार जमा लिया।

एक वर्गीय–संरचना के रूप में राज्य का निर्माण आर्य नस्ल द्वारा किया गया। द्रविड़ जनजातियां और आर्यों के बीच भयानक संघातिक युद्ध हुए। दस्युओं के विरुद्ध आर्यों को शक्तिसंपन्न करने के लिए जनजातीय लोगों को एकबद्ध किया गया। इस लंबे युद्ध में दस्युओं को तभी हराया जा सकता था, जब उनका प्रतिपक्षी अधिक शक्तिशाली हो, श्रेष्ठ नेतृत्व–क्षमता के साथ हो या धूर्तता करने योग्य हो।

tkfr vkj o.k ;k oxZ dk lfEeyu

यह सम्मिलन तब होना शुरू हुआ, जब आर्यों ने द्रविड़ों को हरा दिया। यह स्थिति तब निर्मित हुई, जब आर्यों का सामाजिक विकास द्रविड़ों से आगे का था और वे राज्य सामाजिक–व्यवस्था में प्रवेश कर चुके थे। जबकि इसी समय द्रविड़ प्रति–राज्य या राज्यहीन कृषक सामाजिक संगठन में रह रहे थे, जहां अतिरिक्त उत्पादन नहीं होता था, जिस प्रकार आर्यों के संगठनों में होता था।

भारोपीय आर्यों के लिए कृषि एक अपरिचित कृत्य था। चरवाहों का जीवन बिताने वाले ये लोग एक आक्रामक संस्कृति के वाहक थे। उनके समाज के वर्गीय–चरित्र ने उन्हें कबीलाइयों को जीतकर कस्बों और शहरों के विकास के लिए प्रेरित किया। कलाकारों और हस्त शिल्पकारों की मांग अब बहुत बढ़ गई। आदिवासी गांवों के उखड़े हुए लोगों को कैद कर लिया गया और यह कस्बे और शहरों के पहले केंद्र बने। हम निश्चिंत होकर कह सकते हैं कि वे लोग अपने जातीय जुड़ाव के साथ ही वहां आए। वे जो कुछ उत्पादित करते थे, वह उनके प्रयोग के लिए नहीं होता था। लेन–देन पर आधारित नियमित व्यापार (Better) ने अतिरिक्त उत्पादन (Surplus) का सृजन किया।

आर्य वर्णिक व्यवस्था के पुरोहितों और शासक–वर्ग की अपेक्षा व्यापारियों ने शिल्पकार जातियों को जन्म दिया। बाद में ये लोग वर्ण–व्यवस्था में वैश्यों के रूप में सम्मिलित हुए। व्यापार के द्वारा उत्पादित की गई संपत्ति ने वैश्यों के स्तर में बढ़ोत्तरी की। उन्हें दो शोषक–वर्गों में स्थान प्राप्त हो गया। स्वाभाविक रूप से ये लोग जातिप्रथा को साथ लेकर आए थे।

अन्य महत्त्वपूर्ण उत्पादक जातियां जैसे दस्यु और शूद्र भी वर्ण–व्यवस्था के अंतर्गत आ गई। जिन लोगों ने जाति–व्यवस्था में बाद में प्रवेश किया, उन्हें राज्य शासक–वर्ग द्वारा निम्न जातियों के अंतर्गत रखा गया। हम तार्किकता के आधार पर निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इन गैर–उत्पादक जातियों के लिए आदिवासी ग्रामीण समुदाय में कोई स्थान नहीं था।

अब हम इस विषय पर विचार करेंगे कि किस तरह से वर्णिक व्यवस्था में कई अन्य उप जातियों की उपस्थिति हुई।

धर्म पुरोहित–वर्ग के विशेषाधिकार में तब्दील होता गया। ब्राह्मणों ने इस वर्ग की गतिविधियों को विस्तृत किया। अब उन्होंने राज्य की सभाओं में स्थान प्राप्त करने के साथ उसके धार्मिक दायित्वों को निभाना शुरू किया। बाद में कई अन्य सामाजिक कार्य जैसे विवाह, मृत्यु–संस्कारों को कराने के साथ इन सभी ने ज्योतिषी या अध्यापक की भूमिका निभानी भी शुरू की। इन लोगों ने शोषण के कई तरीकों को खोज निकाला था। साथ–ही–साथ अधिरचना से संबद्ध कई पेशों का सृजन कर लिया था। इन भिन्न–भिन्न व्यवसायों को करने वालों को ब्राह्मण–वर्ग के अंतर्गत ही भिन्न–भिन्न नाम दिए गए।

नयाकाडू, पड़याट्ची, मारवा, जाट आदि नमों वाली कई योद्धा–जातियों का उदया हुआ। इन जातियों का उदय निम्न वर्गों के शूद्रों के द्वारा हुआ और इन्हें कृषक–जातियों के साथ शूद्रों में भी उच्चावच्च क्रम में सर्वोच्च स्थान दिया गया।

इस तरह से दो भिन्न संस्कृतियों के सम्मिलन से जनजातीय ग्रामीण समाज की अच्छाइयां लुप्तप्राय हो गईं और वर्गीय समाज–संरचना के नकारात्मक रास्ते पर यह अग्रसर हो गया, जो उत्पादकों या जोतदारों के अतिरिक्त श्रम/उत्पादन को हड़पने के लालच पर आधारित था।

लेकिन जनजातीय ग्रामीण समाज में अछूतों या पंचमों का उदय बाद में हुआ, जब सामंती–व्यवस्था अत्यधिक शक्तिशाली हो गई। यदि हमारे देश में इन अभागों का उद्धार होना है, तो इन्हें उन जंजीरों से मुक्त होना होगा, जो उन्हें गांवों से बांधे हुए है। इससे मुक्त होकर उन्हें कस्बों के कारखानों का रुख करना होगा।

ध्यान रखना चाहिए कि सरकार द्वारा इस कुरीति का उन्मूलन करने के लिए अपनाए जाने वाले उपायों ने जाति–प्रथा के स्थायीकरण को ही बढ़ावा दिया है। यही स्थिति अछूतों के विषय में भी है।

अपनी वर्णिक व्यवस्था के साथ नस्लों का द्रविड़ जाति–व्यवस्था से सम्मिलन हुआ, और इस अंतर्क्रिया द्वारा बिल्कुल अनपेक्षित परिणाम प्राप्त हुए हैं। धीरे–धीरे वर्णिक व्यवस्था के भीतर उपजाति–व्यवस्था का उदय हुआ। आदिम ग्रामीण व्यवस्था के लोग आर्यों द्वारा पराजित होने पर पहले तो दस्यु के रूप में पहचाने गये, बाद में मनु द्वारा उन्हें शूद्र के रूप में अपनाया गया। अछूत ग्रामीण जाति–व्यवस्था के लिए मनु द्वारा दिया गया उपहार है।, जिन्हें मनु–संहिता में पंचम के नाम से पांचवें वर्ण में रखा गया–द्रविड़ों की जाति–व्यवस्था से पृथक अवांछित, अवैध व्यक्ति के रूप में।

आदिम स्थिति में जातिप्रथा प्रकृति की संहारक शक्तियों के विरुद्ध व्यक्तियों के एकजुट होने का माध्यम थी। वहीं बाद में इसने अपना रूप इस तरह परिवर्तित किया कि इसने व्यक्ति को व्यक्ति के विरुद्ध खड़ा कर दिया। आधार–संरचना पर अधिसंरचना के सोचे–समझे प्रभाव स्वरूप जाति–प्रथा को इसकी प्राथमिक भावना के विरुद्ध ही कर दिया।

धीरे–धीरे इस बुराई ने अपना प्रभाव जमा लिया। हम संगम–साहित्य में आदिवासियों के कुरूंजी से मुल्लई तक के परिवर्तन में, मुरुधम अवस्था तक नए–नए पेशों (व्यवसायों) के साथ जातिप्रथा में प्रवेश करते गए। शूद्र जातियों में विद्यमान उच्चावच्च क्रम का होना निश्चित जाति की शोषक स्थिति को प्राप्त रखने की कोशिश है, बल्कि आधार–संरचना में प्रविष्ट जाति की अधिसंरचना में प्रवेश करने की भी कोशिश है। विषयगत रूप में अधिसंरचना ने सांस्कृतिक रूप से जातीय विवाह पर भी इसका प्रभाव डाला है।

vxl fodkl

हम देखते हैं कि ग्रामीण समाज के उत्पादक संबंधों के अंतर्गत जाति का जन्म तब हुआ, जब आदिवासियों के भोजन–प्राप्ति का तरीका बदला यानि वे भोजन–संग्राहक से भोजन–उत्पादक के रूप में तब्दील हो गए।

व्यक्ति की नैसर्गिक आवश्यकता भोजन है, लेकिन मनुष्य की चाह होती है कि वह उन चीजों को प्राप्त करे, जिससे उसका जीवन आरामदायक, सुविधाजनक हो जाए। यह स्थिति तब से ही है, जब से मनुष्य ने अपने अस्तित्व के लिए भोजन–संरक्षण करना शुरू किया और गुफाओं आदि में पनाह ली। धीरे–धीरे उसने झोपड़ा और बाद में घर बनाना सीखा। ईंटें और बर्तन मिट्टी से बनते थे। धातु का प्रयोग शुरू होने पर मनुष्य ने हथियार और काम में आने वाले विभिन्न औजारों को बनाना शुरू किया। परिणामस्वरूप कला और हस्तशिल्पों की विविधता सामने आई। साथ–ही–साथ इस प्रत्येक विभिन्नता ने जाति के नाम पर श्रम–विभाजन शुरू किया और विवाह आदि के मामलों में भी संस्तरीकरण व्यापक हुआ।

व्यक्ति को संतुष्टि की चाह होती है। बच्चों को यह सिखाने के लिए कि किस तरह से हिरन का शिकार किया जाए गुफाओं में चित्र बनाए जाते थे। जानवरों को भगाने के लिए ढोल आदि बजाए जाते थे, जिसका बाद में लयबद्ध संगीत की कला के रूप में विकास हुआ। मनुष्य शिकार के दौरान भिन्न–भिन्न किस्म की जो अवाजें निकालते थे, वही बाद में नृत्य और गायन के रूप में विकसित हुईं। इसी सामान्य तर्कानुरूप हम समस्त श्रम–क्रियाओं के विकास को देख–समझ सकते हैं। संपत्ति का भी विकास हुआ। साथ–ही–साथ शोषक–वर्ग ने अपना मनोरंजन करने वालों को ईनाम देना शुरू किया। शासक –वर्ग ने उन लोगों पर दबाव डाला कि वे उनका मनोरंजन करें, और उन पर निर्भर रहें। इस तरह सांस्कृतिक जातियों का उदय हुआ। देवदासी या मंदिर की वेश्या, गणिका बाद में नृत्यांगना और इसी तरह अन्य लोग निम्न जाति के शूद्रों से संबद्ध थे। इनका उदय अधिसंरचना से हुआ और यह गैर–उत्पादक जातियां थीं।

इसी के साथ–साथ शासक जातियों का उदय हुआ। योद्धा–जाति, पुरोहित–जाति, शिक्षित–जाति, जिनकी शुरुआत में बहुत अल्प संख्या थी, बाद में उनमें से कुछ जैसे योद्धा–जाति ने कृषि–कार्य अपना लिया और प्रमुख जाति के रूप में सामने आए। उत्तर में इन योद्धा–जातियों ने क्षत्रिय–वर्ग में स्वयं को समाहित कर लिया, और सामाजिक जाति–संरचना के उच्चावच्च क्रम में स्वयं को उच्च शासन पर स्थापित कर लिया। वहीं दक्षिण में, जहां वर्णिक वर्ण–संरचना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थी, वहां इन लोगों ने स्वयं को जाति–संरचना में समाविष्ट कर लिया और शूद्रों

वे रूप में जाने जाने लगे। इसका एक अच्छा उदाहरण वन्नियारस, मारवा, नयूडूस, लायकर्स, थोहीयर्स आदि का है। शूद्र जातियों में भी जिसने भूमि पर अधिकार कर लिया, वह ऊंची जाति में सम्मिलित हो गया। वहीं शिल्पकार निम्न जाति से संबद्ध रहे।

भविष्य के विकास में जाति कर्म के साथ अपने आधारभूत संबंध को खो चुकी है और इससे पूर्णतः विपरीत दिशा में है। इसकी शारीरिक श्रम से शुरुआत हुई, गैर श्रमिक परिस्थितियों में इसका विकास हुआ और शारीरिक श्रम के विरोध में अपने चरम पर पहुंचा। एक उद्देश्यिक घटनाक्रम की स्थिति से यह विषयगत घटनाक्रम में तब्दील हो गया, जो पूर्णतया जन्म के द्वारा नियंत्रित होता था। जन्म द्वारा जातिगत नियंत्रण के कारण विवाह प्रतिबंधों को स्थापित किया गया, जिससे एक जाति का दूसरी जाति से संबंध होता था।

उद्देश्यिक घटनाक्रम से विषयगत घटना में जाति की तब्दीली ने अपने विरोधाभासों से अपनी अंतर्क्रिया की, अधिकतर उद्देश्यपूर्ण ढंग से और कभी–कभी अनुद्देश्यपूर्ण ढंग से। जिसका तात्पर्य यह था कि जिसका गैर–श्रमिक जाति में जन्म हुआ, वह सर्वोच्च–जाति का कहलाया। वही जो श्रमिक–जाति में जन्म लेता था, वह निम्न जाति में वर्गीकृत होता था। तब यह बुराई कैसे परिवर्तित होगी?

ब्रह्म–समाज और आर्य–समाज ने इसे परिवर्तित करने की कोशिश की, और सभी को एक धर्म के अंतर्गत लाने का प्रयास किया, एक जातिहीन धर्म के अंतर्गत। वे असफल हुए। आंबेडकर और अन्य लोगों के दलित आंदोलनों के साथ पेरियार और उनके अनुयायियों के स्वसम्मान आंदोलन के साथ कुछ उपलब्धियां तो प्राप्त कर सके। कम–से–कम इस बात की चेतना तो उत्पन्न ही कर सके कि आर्थिक बेहतरी के लिए शिक्षित होना जरूरी है। धर्म, ईश्वर, रीति–रिवाजों और संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में उनका दृष्टिकोण समान था। निम्न जातियां अर्द्ध आदिवासी जातियां थीं, जिनका उदय सामाजिक जरूरतों के कारण हुआ। जब समाज परिवर्तित होगा, तब सामाजिक आवश्यकताओं के चलते जाति–प्रथा दूर होगी। लेकिन सुधारकों की इच्छा से सामाजिक–परिवर्तन नहीं होता। वह लोग, जिनका वर्गीय दमन होता है, उन्हें वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन लाना चाहिए। जातिप्रथा उन्मूलन के लिए सरकार द्वारा किए जाने वाले झूठे प्रयासों की जगह हमें ठोस उपायों को सुझाना चाहिए। हमें बहुसंख्यक जनता की भावनाओं को सही दिशा में परिवर्तित करने के लिए उभारना चाहिए।

आगे मेरे द्वारा कुछ सलाहों का उल्लेख किया गया है, जो पीड़ितों को आकर्षित करेंगी, क्योंकि ये अप्रत्यक्ष रूप से उनके दीर्घकालिक हितों को पूरा करेंगी।

निम्न जातियों की अपेक्षा ब्राह्मण इस परिवर्तन के लिए अधिक जिम्मेदार हैं। ब्राह्मण भी अपनी जाति–व्यवस्था में विवाह करने के लिए दहेज देने के लिए अभिशप्त हैं। साथ–ही–साथ उच्च शिक्षण संस्थानों में प्रवेश के लिए और व्यवसायों के लिए भी उन्हें धन देना पड़ता है। ब्राह्मणों और उच्च–वर्ग में व्याप्त इस समस्या के हल के लिए उन्हें निम्न जाति विवाह को स्वीकार करना चाहिए। उच्च जाति के व्यक्ति को निम्न जाति के व्यक्ति से विवाह करने पर ईनाम मिलना चाहिए।

स्कूल या व्यवसाय में प्रवेश करने के लिए जाति के तीन वृहत्तर विभाजन होने चाहिए : उच्च जाति, मध्यम जाति, निम्न जाति और जातिहीन। अंतर्जातीय विवाह करने वाले व्यक्तियों के बच्चों को जातिहीन श्रेणी में रखना चाहिए, और उन्हें निम्न जाति के बच्चों को प्राप्त होने वाले लाभ देने चाहिए।

उच्च व मध्यम जातियों में जाति के अंतर्गत होने वाले विवाहों पर व्यक्ति की संपदा के अनुपात में कर आरोपित करना चाहिए। इस कर से अंतर्जातीय विवाह करवाने चाहिए। इन विवाहों में होने वाले खर्च को पूर्वोक्त खाते से ही लेना चाहिए।

गांवों में निम्न जातियों की गतिकता को बढ़ाने के लिए अनुदान आदि देना चाहिए, जिससे जाति जैसी व्यवस्था का उन्मूलन हो सके। इस बात को सुनिश्चित करने के लिए सार्वजनिक और निजी उद्योगों के लिए कानून बनाना चाहिए, जिसमें उन्हें बाध्य किया जा सकता है कि पूर्वोक्त चारों श्रेणियों में से श्रमिकों की अनुपातगत भर्ती की जाए।

निम्न जातियों में कभी अलगाव की भावना नहीं विकसित होने देनी चाहिए। गांवों में अंतर्जातीय विवाह द्वारा निम्न जातियों में प्रवेश करने वालों को वह सभी लाभ देने चाहिए, जो निम्न जाति के अनुसूचित जाति के लोगों को प्राप्त होते हैं।

सभी किस्म के दस्तावेजों पर से जाति के नाम का उल्लेख वर्जित कर देना चाहिए।

इस तरह से क्या हासिल होगा? वर्गहीन समाज की आवश्यकता से ही जाति विस्मृत हो पाएगी, जबकि ध्यान रखना चाहिए कि शासक–वर्गों के लिए ही जाति की आवश्यकता होती हैं जाति के उन्मूलन के लिए संघर्ष करने के लिए आवश्यक है कि उन लोगों को आर्थिक लाभ दिया जाए, जो इसके उन्मूलन का प्रयास कर रहे हैं। सरकार से प्राप्त होने वाले फायदों का इसके उन्मूलन के लिए प्रयोग करना चाहिए। मीडिया को भी धर्म–निरपेक्ष होकर संविधान का सम्मान करना चाहिए। सरकार के साथ निजी आर्थिक संस्थानों को निम्न जाति के अछूत वर्गों की गतिकी को बढ़ावा देना चाहिए।

xFk& lph

1) देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय – लोकायत
2) स्टेअर्ड पिगर – प्रीहिस्टारिक इंडिया
3) इमानुवेल टेरी – मार्क्यिज्म एंड प्रिमिटिव सोसायटी
4) राहुल सांकृत्यायन – हिंदू फिलॉसोफी
5) राहुल सांकृत्यायन – बुद्धिस्ट फिलॉसोफी
6) गुना – ओरिजिन ऑफ कास्टिज्म
7) राहुल सांकृत्यायन – वोल्गा टू गंगा
8) गेल ओंबेट (संपा.) – कास्ट, क्लास एंड लैंड इन इंडिया
9) डॉ. केशवन – मनुमम ममथा उरवूगलूम

ypkd

के.वी. रमन्ना–जन्म 23 मार्च, 1927 को आंध्र प्रदेश के नेल्लोर जिले के एक गांव में। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से इतिहास व राजनीति विज्ञान विषय में परास्नातक 50 के दशक में राजनीतिक, सांस्कृतिक गतिविधियों में प्रवेश,

अभ्युदय रचना संघम (ARASAM) के अलावा अखिल भारतीय विप्लव सांस्कृतिक समिति, भारत–चीन मित्र मंडल सहित आंध्र प्रदेश मानवाधिकार संघ में सक्रिय सदस्य रहे। तेलगू व अंग्रेजी में अनेक पुस्तकों का लेखन, पुस्तकों में कई कविता–संग्रह भी।

पी.एन.रंगास्वामी – दक्षिण भारत के प्रसिद्ध राजनीतिक व सांस्कृतिक कर्मी।

vu|oknd

रितु गुप्ता –शुरुआती अध्ययन रांची विश्वविद्यालय से. उच्च अध्ययन महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा में, वही शोध–कार्य में संलग्न।

l|iknd

जीतेन्द्र गुप्ता–शुरुआती अध्ययन कानपुर विश्वविद्यालय में, बाद में कुछ वर्ष महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में पिछले 5–6 वर्षों से हिंदी व हिंदी साहित्य के इतिहास, भूगोल के साथ उसके अर्थचक्र को समझने की कोशिशों में मुब्तला, कुछ लेख व अनुवाद प्रकाशित. वैश्वीकरण से संबंधित पुस्तकों की एक श्रृंखला का अनुवाद, संवाद प्रकाशन से प्रकाशित।